नये नेतृत्व की तलाश में दलित

अरविंद कुमार

देश की राजनीति में दिल्ली का कई मायनों में एक प्रतीकात्मक अर्थ है। 2013 में हुए दिल्ली के विधानसभा चुनाव में जब बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का खाता नहीं खुला था, तब कुछ राजनीतिशास्त्रियों ने इसकी व्याख्या 'पोस्ट-आइडियोलॉजी' एवं 'पोस्ट-आइडेंटिटी' जैसी घटना के रूप में की थी। बसपा के लिए यह एक तगड़ा राजनीतिक झटका था। लेकिन ठीक अगले ही साल 2014 के संसदीय चुनाव में भी उत्तर प्रदेश में बसपा का सूपड़ा साफ़ हो जाएगा— इसका क़यास न तो इस पार्टी के नेताओं, कार्यकर्ताओं या रणनीतिकारों ने लगाया होगा और न ही इस बात की कोई ठोस व्याख्या किसी बुद्धिजीवी या चुनाव-पण्डितों के पास थी। राजनीति ने करवट ली, लेकिन तस्वीर कुछ ख़ास नहीं बदली। 2017 में सम्पन्न हुए उत्तर प्रदेश विधानसभा के आम चुनाव में जब भाजपा की सुनामी में वहाँ चुनाव लड़ रहे सभी राजनीतिक दल चारों खाने चित हो गये तब भी मत प्रतिशत के आधार पर बसपा 22.2 प्रतिशत वोट पाकर प्रदेश की दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनी रही। यहाँ ध्यान देना ज़रूरी है कि एक ओर जहाँ भाजपा 39.7 प्रतिशत वोट पाकर कुल 403 सीटों में से 312 सीटें जीतने में कामयाब रही, वहीं बसपा को मात्र 19 सीटें ही मिली। यह बात और है कि

सपा वोट शेयर के लिहाज़ से बसपा से कम (लगभग 22 प्रतिशत) वोट पाकर भी 47 सीटें जीत गयी।[1]

2019 में हुए लोकसभा चुनाव में जब बसपा और सपा गठबंधन बनाकर भी भाजपा को मात नहीं दे पाए, तब भी मत प्रतिशत एवं सीट, दोनों ही लिहाज़ से बसपा प्रदेश की दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनी रही। बसपा और सपा दोनों ही पार्टियाँ तालमेल में बराबर सीटों पर चुनाव लड़ीं और क्रमशः दस एवं पाँच सीटें ही जीत पायीं। फ़िलहाल यह कहना तो जल्दबाज़ी होगी कि बसपा ने अपनी खोई हुई ज़मीन वापस प्राप्त कर ली है, लेकिन इतना तय है कि इस पार्टी का स्मृति-शेष लिखनेवालों को अभी और इंतज़ार करना होगा। और ऐसे वक़्त में प्रदीप कुमार की पुस्तक *दलित आंदोलन : बसपा एक विकल्प* का आगमन दलित राजनीति और दलित आंदोलन से जुड़ी विषय-वस्तु पर बौद्धिक विमर्श के लिए एक नया कैनवास उपलब्ध कराती है।

दलित आंदोलन : बसपा एक विकल्प (2018)
प्रदीप कुमार
अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली
पृष्ठ : 444, मूल्य : 395 रुपये

इस पुस्तक के ढाँचे और शिल्प को देखना ज़रूरी है। पुस्तक की मुख्य विषय-सामग्री के अनुपात में प्रस्तावना छोटी है और प्राक्कथन की तुलना में कमज़ोर भी। शोध के विषय में जो गहराई है, उसे पुस्तक के शुरुआती अध्याय में और बेहतर ढंग से उकेरा जा सकता था। इसकी एक वजह शायद यह हो सकती है कि लेखक ने प्रस्तावना को अलग से अध्याय बनाने का प्रयास नहीं किया है। पर इससे इतर, प्रस्तावना में जहाँ विभिन्न अध्यायों में विषयवस्तु का सार प्रस्तुत किया गया है, वहाँ भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें नज़रअंदाज़ करना मुश्किल है। उदाहरण के लिए, चौथे अध्याय का शीर्षक 'उत्तर प्रदेश में बसपा की चुनावी राजनीतिक-रणनीति' है। इसका ज़िक्र अनुक्रम एवं पुस्तक की मुख्य पाठ्य-सामग्री, दोनों जगह है : लेकिन प्रस्तावना में इस अध्याय का सार लिखते वक़्त इसका शीर्षक 'बसपा की 1984 से 1996 तक चुनावी रणनीति' लिखा गया है और वह भी तिरछे अक्षरों में। सबसे ज़्यादा यह बात खलती है कि छठा अध्याय (जो लेखक द्वारा आगरा और मथुरा में किये गये फ़ील्डवर्क पर आधारित है), का सार सातवें अध्याय की जगह लिखा गया है जो पाठकों को अटपटा लग सकता है। लेकिन इन कुछ कमियों को यदि छोड़ दें तो यह पुस्तक हर लिहाज़ से पुख़्ता है। उपसंहार निश्चित तौर से ठोस और दुरुस्त है।

पुस्तक का प्राक्कथन दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्री महेंद्र प्रसाद सिंह ने लिखा है। उन्होंने दलितों के राजनीतीकरण के दो प्रमुख चर्चित मॉडलों को बहुत ही कम शब्दों में सलीक़े से समझाया है। उनके अनुसार महात्मा गाँधी 'हरिजन-मॉडल' के पहले प्रकार के प्रवर्तक थे और इसकी प्रतीकात्मक ज़िम्मेदारी कांग्रेसी नेता जगजीवन राम के कंधों पर थी, जबकि दूसरा मॉडल यानी 'दलित-बहुजन मॉडल' के केंद्र में महात्मा फुले और बाबासाहेब आम्बेडकर थे, और इसे अमली जामा पहनाने में नामदेव ढसाल, कांशीराम और मायावती जैसे कई लोगों को शामिल किया जा सकता है। प्रोफ़ेसर सिंह 'दलित-बहुजन मॉडल' को सटीक मानते हैं और उसे अकादमिक परिप्रेक्ष्य में अवस्थित करते

[1] देखें, इलेक्शन डेटा, इलेक्शन कमीशन ऑफ़ इंडिया, विधानसभा चुनाव, 2017.

हुए आगे बताते हैं कि इस मॉडल में भी दो धाराएँ मौजूद हैं। पहली धारा का स्रोत महाराष्ट्र है और दूसरी का उत्तर प्रदेश। जहाँ पहली धारा में दलित राजनीति की सांस्कृतिक ऊर्जा और आम्बेडकर प्रेरित दलित साहित्य का ओज दीखता है वहीं दूसरी में जाति-अस्मिता को केंद्र में रख कर लोकतांत्रिक निर्वाचन के सहारे सत्ता प्राप्ति और शासन में हिस्सेदारी का लक्ष्य ही प्रमुख दिखाई देता है। (पृ. 9)

पहले अध्याय में कमज़ोर एवं दलित जातियों के अंदर आत्मचेतना की उत्पति और विकास पर प्रकाश डाला गया है। इस शोध के लिए फ़ील्डवर्क एवं बृहत्तर पृष्ठभूमि के रूप में उत्तर प्रदेश को चुना गया है जो औपनिवेशिक शासन के दौरान संयुक्त प्रांत कहलाता था। यहाँ निम्न जातियों के बीच संस्कृतीकरण एवं गतिशीलता अहम मुद्दा था जिस पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है। लेखक का एक कथन इस बात को प्रभावी तरीक़े से रखता है जो ख़ासकर एम.एन. श्रीनिवास सरीखे समाजशास्त्रियों की मान्यताओं पर आधारित है : 'बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में दलित जातियों ने भी नये प्रतिमान में शामिल होने के लिए वही हथकण्डे अपनाए जो सवर्ण जाति के लोग अपनाते थे। दलितों ने संस्कृतीकरण, उर्ध्वाकार व क्षैतिज गतिशीलता, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण और लौकिकीकरण पर एक साथ बल देना शुरू किया, जो आगे चलकर दलित आंदोलन का विशेष आधार बना और दलित राजनीति की पृष्ठभूमि के लिए मज़बूती से खड़ा रहा, और जिसने औपनिवेशिक भारत के राजनीतिक अखाड़े में पहली बार दलित राजनीति की नींव डालने का अद्वितीय सराहनीय प्रयास किया, जिससे दलित जातियों में समाज और राजनीति के स्तर पर अपने अधिकारों की प्राप्ति लिए एक संगठित सक्रियता का उभार हुआ। व्यावहारिक धरातल पर इसने कमोबेश प्रत्येक कमज़ोर व दलित जाति को प्रभावित किया।' (पृ. 21-22)

इस अध्याय में आगे अछूतानंद द्वारा शुरू किये गये आदि धर्म आंदोलन की चर्चा की गयी है। लेखक के अनुसार आम्बेडकर की ही भाँति अछूतानंद ने भी अपने आंदोलन की सीमा को पहचानते हुए शूद्रों, अस्पृश्यों के साथ आदिवासियों को एकजुट करने के बजाय अपना राजनीतिक ध्यान केवल शूद्रों एवं अस्पृश्य जातियों पर ही केंद्रित रखा क्योंकि उन्हें इस बात का इल्म था कि जनसंख्या के दृष्टिकोण से केवल ये दो समूह ही एक बड़े राजनीतिक दबाव-समूह का निर्माण कर सकते थे। उल्लेखनीय है कि इस समय के आसपास भारतीय राजनीति में औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा 1909 से पृथक् प्रतिनिधित्व योजना की शुरुआत कर दी गयी थी। यह योजना कमज़ोर जातियों को संगठित और आंदोलित होने के लिए प्रेरित कर रही थी। तब ब्राह्मणवाद से लैस प्रतिक्रियावादी ताक़तें भी चुप नहीं बैठी थी। लेखक ने यहाँ एक ऐसी घोर जातिवादी वक्तव्य का ज़िक्र करते हुए बताया है कि 1918 में जब ग़ैर-ब्राह्मण तथा पिछड़े वर्ग के लोगों ने तत्कालीन सभाओं में पृथक् प्रतिनिधित्व के लिए आंदोलन करना शुरू किया तो शोलापुर, महाराष्ट्र की एक सभा में बाल गंगाधर तिलक ने कहा था, 'मैं नहीं समझ पाता कि तेल निकालने वाले तेली, तमोली, धोबी इत्यादि ग़ैरब्राह्मण और पिछड़े वर्ग के लोग विधान सभाओं में क्यों जाना चाहते हैं।' (पृ. 49-50)

अगर भारतीय राजनीति में बसपा की परिकल्पना एक विकल्प के रूप में की गयी है तो फिर इसके एक और पहलू को देखना ज़रूरी हो जाता है। यह पहलू है 'बहुजन' शब्द की परिभाषा और इससे जुड़ी वैचारिकी का। शाब्दिक अर्थ और अस्मिता की दृष्टि से इसके इर्द-गिर्द जो भी बौद्धिक विमर्श गढ़े गये हों; यह बात तय है कि चुनावी आँकड़ों के हिसाब से इस पार्टी के मूल मतदाताओं का सबसे बड़ा समूह अनुसूचित जाति के मतदाताओं का रहा है। यहाँ यह जानना रोचक है कि आम्बेडकर अपने विभिन्न राजनीतिक प्रयोगों द्वारा दलितों, शोषितों, पिछड़ों की एक बृहद लामबंदी की लगातार कोशिश करते रहे लेकिन उन्हें भी इसमें ख़ास सफलता नहीं मिली— चाहे उनकी इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी रही हो या फिर शिड्यूल्ड कास्ट फ़ेडरेशन। लेखक का कहना है कि 'आम्बेडकर ने बौद्ध धर्मांतरण कर या फिर 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया' जैसे नये राजनीतिक दल की नींव रखने पर ज़ोर दिया। वे ऑल इंडिया शिड्यूल्ड कास्ट

फ़ेडरेशन को एक व्यापक राजनीतिक दल के रूप में रूपांतरित करना चाहते थे ताकि उसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग के साथ कृषक और मज़दूर (सर्वहारा) वर्ग भी शामिल हो सकें। आम्बेडकर ने यह रणनीति उसी दौरान बना ली थी जब वे नागपुर में 14–15 अक्टूबर, 1956 को अपने समर्थकों के साथ सामूहिक बौद्ध धर्मांतरण कर रहे थे।' (पृ. 67–68)

दूसरे अध्याय में बसपा के गठन और उसके निर्धारक तत्त्वों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अध्याय के पहले भाग में उत्तर प्रदेश की राजनीतिक स्थिति का लेखा-जोखा करते हुए यह बतलाया गया है कि राज्य में आम्बेडकर प्रेरित विमर्श किस तरह तैयार हुआ। अध्याय के दूसरे भाग में, इस बात पर चर्चा है कि उत्तर प्रदेश में आरपीआई का अंत कैसे हुआ और कांशीराम तथा उनके सहयोगियों ने इस राजनीतिक मौक़े का इस्तेमाल करते हुए न केवल रिपब्लिकन पार्टी की नाकामियों को उजागर किया बल्कि तत्कालीन दलित राजनीति और नेतृत्व को चमचा और उस पूरे दौर को 'चमचा-युग' क़रार देकर पहले बामसेफ, बाद में डीएसफ़ोर और जैसे संगठन का निर्माण करते-करते आख़िरकार उसे पेशेवर राजनीतिक जामा पहनाकर बसपा की नींव रखी।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में दलित जातियों ने भी नये प्रतिमान में शामिल होने के लिए वही हथकण्डे अपनाए जो सवर्ण जाति के लोग अपनाते थे। दलितों ने संस्कृतीकरण, उर्ध्वाकार व क्षैतिज गतिशीलता, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण और लौकिकीकरण पर एक साथ बल देना शुरू किया, जो आगे चलकर दलित आंदोलन का विशेष आधार बना और दलित राजनीति की पृष्ठभूमि के लिए मज़बूती से खड़ा रहा।

बसपा के लिए विकल्प बने रहने में जो दीर्घकालिक वजह है, उसे लेखक ने पुस्तक के तीसरे अध्याय 'बसपा की विचारधारा और सांस्कृतिक रणनीति' में ख़ूबसूरती से रखा है। कोई भी राजनीतिक पार्टी विचारधारा के बिना ज़िंदा नहीं रह सकती। वह न केवल पार्टी के वजूद को दर्शाती है बल्कि विषम परिस्थितियों में उसे आंतरिक ऊर्जा भी प्रदान करती है। बसपा के लिए कांशीराम ने यह काम बेहतरीन ढंग से किया था। लेखक ने इस बात का उल्लेख दिल्ली में भारतीय सामाजिक संस्थान द्वारा आयोजित प्रथम दलित हिस्ट्री कांग्रेस के हवाले से किया है जिसमें लगभग 350 बुद्धिजीवियों, इतिहासकारों, शिक्षाविदों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया था। इस कार्यक्रम के अतिथि भाषण में कांशीराम ने कहा था, '...जो लोग आज एक नये इतिहास के निर्माण का लक्ष्य लेकर निकले हैं उनके लिए यह ज़रूरी है कि वे वास्तविक इतिहास के बारे में जानकारी हासिल करें और उससे सीख लेते हुए अपने संघर्षों और लक्ष्य को दिशा दें; (चूँकि) मनुवादी समाज का हमेशा यह लक्ष्य रहता है कि वह हमारे महापुरुषों के संघर्षों की जानकारी हमारे समाज तक न पहुँचने दें इसलिए वे इतिहास को हमेशा तोड़-मरोड़कर और मनुवादी दृष्टिकोण से ही लिखने की कोशिश करते हैं। इसके साथ ही वे इस बात को भी हमसे छिपाने की कोशिश करते हैं कि मनुवादी समाज द्वारा दलित शोषित समाज के महापुरुषों के रास्ते में जो रुकावटें खड़ी की गयीं, उसकी जानकारी भी दलित शोषित समाज तक न पहुँच पाए। ... इसलिए यह बेहद ज़रूरी है कि हम अपने समय का सच्चा इतिहास दलित (शोषितों का इतिहास) लिखें ... दलित बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों की यह ज़िम्मेदारी है कि वे उनके समाज के द्वारा किये जा रहे संघर्षों का ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखने की कोशिश करें ताकि हमारी पीढ़ियाँ हमारे संघर्षों से सीख ले सकें।' (पृ. 150–151)

इसमें संदेह नहीं कि कांशीराम के बाद बौद्धिक विमर्श की धार पहले के मुक़ाबले निश्चित तौर पर मद्धिम हुई है, लेकिन इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि बौद्धिक फ़लक पर जनतांत्रिक

तरीक़े से किये गये श्रम का फल लम्बे समय तक कारगर होता है। लेखक आगरा में अपने शोध के दौरान महसूस किये हुए एक ऐसे ही उपाख्यान का ज़िक्र करते हैं; उन्होंने सँवाई गाँव की चौपाल पर कुछ दलितों को दलित चेतना पर विमर्श करते हुए पाया था। एक दलित रिक्शा चालक (जो मुश्किल से चौथी-पाँचवीं तक शिक्षित रहा होगा) आगरा से प्रकाशित दलित पत्रिका *बहुजन-संगठक* पढ़ रहा था। लेखक द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'क्या आप दलित साहित्य पढ़ते हैं', उनका जवाब था 'साब (कांशीराम) और बहनजी (मायावती) ने हमारी जातियों के लिए इतना कुछ किया है। पहले मनुवादी पार्टियाँ केवल हमें मूर्ख बनाकर हमारा वोट ले लेती थीं, लेकिन अब हमें इस किताब (बसपा द्वारा प्रकाशित पत्रिका *बहुजन संगठन* दिखाते हुए) से सब मालूम हो गया है। अब हमें मनुवादी पार्टी (कांग्रेस) और नहीं छल सकती। क्योंकि हमारे लोग बाबा साब (आम्बेडकर) के मिशन को पूरा करेंगे।'(पृ. 153-154) कांशीराम की जीवनी एवं बसपा की ज़मीनी हक़ीक़त पर लम्बे समय से शोध करने वाले जानेमाने बुद्धिजीवी बद्री नारायण का साफ़ मानना है कि आज के हिंदुस्तान में यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को छोड़ दिया जाए तो बसपा अकेली पार्टी है जिसके पास बुद्धिजीवियों और इतिहासकारों की एक बड़ी टीम है जो नि:स्वार्थ भाव से अपने विचार और विचारधारा से जुड़े विषयों को सक्रिय तरीक़े से न केवल पढ़ते-लिखते हैं बल्कि जनता में उसका प्रचार-प्रसार भी करते हैं।[2]

परम्परागत तौर पर हम पाते हैं कि कैडर आधारित पार्टी या तो वामपंथी होती है या फिर दक्षिणपंथी। लेकिन कांशीराम ने इस धारणा को एक सिरे से ध्वस्त करते हुए 1987 में दावा किया था कि 'बसपा भारत का सबसे बड़ा कैडर आधारित दल है'। कैडर और संगठन निर्माण रातों-रात नहीं होता। यह दूरगामी सोच, एकाग्रचित, शिष्टाचार और कठोर परिश्रम से सम्भव हो पाता है। बसपा इस मुक़ाम तक कैसे पहुँची इसकी तहक़ीक़ात लेखक ने चौथे अध्याय में की है। अपने कार्यकर्ताओं और कैडरों के बीच बसपा ने श्रम-विभाजन का एक अद्भुत तरीक़ा विकसित किया था। यह बात संगठन के विकेंद्रीकरण और पार्टी द्वारा बनाए गये विभिन्न दस्तों के नाम— जागृति दस्ता, साइकिल दस्ता, भिखारी दस्ता, सुरक्षा दस्ता (बहुजन वॉलंटियर फ़ोर्स), नीति-निर्माण और निर्देश देने वाला दस्ता, जीप व वाहन दस्ता, गुप्तचर दस्ता तथा पार्टी सामग्री तैयार करने वाला दस्ते इत्यादि से ज़ाहिर हो जाती है। इस अध्याय में बसपा की स्थापना से लेकर अब तक के चुनावी सफ़र के बारे में विस्तार से बताया गया है।

पार्टी द्वारा चलाए गये विभिन्न कार्यक्रमों की भी यहाँ विस्तृत चर्चा की गयी है जिसके प्रतीकात्मक मायने रहे हैं। कुछ एक कार्यक्रमों का ज़िक्र लेखक ने किया है, जैसे रामास्वामी नायकर पेरियार के जन्मदिवस 17 सितम्बर, 1988 को कांशीराम द्वारा कन्याकुमारी से इरोड तक निकाली गयी साइकिल रैली, जो देश के अन्य तीन प्रतीकात्मक कोनों, उत्तर में कारगिल, उत्तर-पूर्व में कोहिमा या फिर पश्चिम में पोरबंदर से एक साथ दिल्ली पहुँची। फिर अगले साल 1989 में बहुजन समाज को लामबंद करने के इरादे से छह महासम्मेलन किये गये। मुरादाबाद सम्मेलन के केंद्र में मुसलमान थे, तो दिल्ली के आयोजन में अनुसूचित जातियाँ। लुधियाना में सिक्खों को लामबंद करने की कोशिश की गयी, तो बिलासपुर में अनुसूचित जन-जातियों को। बंगलूर में ऐसा ही आयोजन दलित ईसाइयों के लिए किया गया था। बाद में राष्ट्रीय स्तर पर माहौल बनाने के लिए आम्बेडकर की पुण्य तिथि छह दिसम्बर, 1990 के अवसर पर 'सामाजिक रूपांतरण वाहन' पर सवार होकर कांशीराम ने तेरह राज्यों की यात्रा की थी। (पृ. 193) सनद रहे कि इसी साल केंद्र की यूनाइटेड फ्रंट सरकार द्वारा मण्डल कमीशन की सिफ़ारिशें लागू करवाने के लिए जो देशव्यापी माहौल बना था उसमें भी कांशीराम और उनके संगठन की भूमिका अग्रणी थी।

---

[2] देखें, बद्री नारायण (2006), *वुमन हीरोज ऐंड दलित ऐसर्सन इन नॉर्थ इंडिया : कल्चर, आइडेंटिटी ऐंड पॉलिटिक्स*, सेज़ पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

जहाँ तक बसपा के नेतृत्व का सवाल है, पार्टी में पहले कांशीराम और फिर बाद में मायावती के नेतृत्व का एकछत्र दबदबा रहा। फिर भी कांशीराम के ज़माने में पार्टी की पहचान केवल कांशीराम के नाम से नत्थी होने के बजाय एक सामूहिक अस्मिता का बोध कराती थी। उस समय पार्टी को पर्याप्त रूप से लोकतांत्रिक माना जाता था, जबकि मायावती के दौर में पार्टी की छवि एक व्यक्ति विशेष के साथ सीमित होकर रह गयी। पुस्तक में भले ही नेतृत्व पर कोई अलग अध्याय न हो लेकिन लेखक ने ऐसे तमाम पहलुओं का कई संदर्भों में संजीदगी से ज़िक्र किया है। पार्टी का केंद्रीय नेतृत्व या फिर लोकप्रिय भाषा में कहा जाए तो पार्टी हाईकमान हमेशा ही एक जाति विशेष के पास रहा जिससे कई बार स्थानीय स्तर पर जातीय प्रतिनिधित्व के मसले पर फूट की भी नौबत आयी लेकिन बसपा ने पार्टी के शीर्ष नेतृत्व में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया। लेखक ने बड़ी बेबाक़ी से बताया है कि 'चाहे ऐसा न करने से पार्टी में बिखराव ही क्यों न पैदा हो। यदि ऐसा होता भी है तो इसके लिए तैयार रहते हुए बसपा ने द्विजों को इसमें शामिल करने पर ज़ोर दिया, लेकिन वह भी पार्टी के दलित नेतृत्व के अधीन रहने की शर्त पर ही।' (पृ. 307)

ज़्यादातर चुनावी सभाओं में कांशीराम और अन्य बसपा कार्यकर्ता अनुसूचित-जाति समूहों के बीच भी अलग-अलग जाति जैसे चमार, महशाह, सतनामी, बाल्मीकि, पासी आदि को उनकी जाति का नाम लेकर समर्थन माँगते थे। इन कार्यकर्ताओं को इस बात से कोई गुरेज़ नहीं था कि वे ख़ुद भी उसी जाति के हैं। यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि इन जाति समूहों को अक्सर सजातीय मान लेने की भूल की जाती है; जबकि इन सभी समूहों के बीच गहरे आंतरिक अंतर्विरोध देखे जा सकते हैं।

वक़्त के अनुसार पार्टी की चुनावी रणनीति भी बदली, लेकिन चुनाव आयोग द्वारा राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा[3] प्राप्त करने के बावजूद चुनावी अंकगणित के नज़रिये से बसपा उत्तर प्रदेश के अलावा किसी भी अन्य प्रदेश में कोई ख़ास ज़मीन तैयार नहीं कर पायी। ध्यातव्य है कि सबसे हालिया जनगणना (2011) के अनुसार अनुपात के लिहाज़ से अनुसूचित जाति की जनसंख्या उत्तर प्रदेश से ज़्यादा तीन अन्य राज्यों में है। उत्तर प्रदेश में इनकी आबादी का अनुपात 20.70 है, वहीं पंजाब, हिमाचल प्रदेश और पश्चिम बंगाल में आबादी का यह अनुपात क्रमश: 31.94, 25.19 और 23.51 प्रतिशत है। पर उतर प्रदेश समेत इन चार राज्यों के अलावा भी कुछ ऐसे राज्य हैं जहाँ अनुसूचित जाति की आबादी राष्ट्रीय औसत (2011 की जनगणना के अनुसार 16.63 प्रतिशत है) के आसपास या फिर उससे ज़्यादा होने के बावजूद सत्ता में उनकी हिस्सेदारी बिल्कुल नगण्य है। ऐसे राज्य हैं : हरियाणा (20.17), तमिलनाडु (20.01), उत्तराखण्ड (18.76), राजस्थान (17.83), त्रिपुरा (17.83), कर्णाटक (17.15), ओडीशा (17.13), अविभाजित आंध्र प्रदेश (16.41), बिहार (15.91), मध्य प्रदेश (15.62) केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली (16.75)[4]। न केवल जनसांख्यिकी बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी दक्षिण के प्रदेश तमिलनाडु, कर्णाटक और अविभाजित आंध्र प्रदेश तीनों ही जगह बसपा की राजनीतिक सम्भावनाएँ

---

[3] भारत के निर्वाचन आयोग के अनुसार भारत में फ़िलहाल भारतीय जनता पार्टी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस समेत केवल छह पार्टियाँ ही हैं जिन्हें राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा प्राप्त है. अन्य तीन पार्टियाँ हैं : कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (मार्क्सवादी) एवं नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी.

[4] ये आँकड़े सामाजिक न्याय एवं महिला सशक्तीकरण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, की वेबसाइट से प्राप्त किये गये हैं.

प्रबल हो सकती थीं, लेकिन एक अपुष्ट वक्तव्य के अनुसार कांशीराम ने दक्षिण के किसी पार्टी प्रतिनिधि को एक बार कहा था कि वे दक्षिण बसपा के संगठन को लेकर किसी जल्दबाज़ी में नहीं हैं। उनका साफ़ संकल्प था कि 'हम उत्तर प्रदेश से ही पूरे भारत पर शासन कर सकते हैं। उत्तर के बाद मैं दक्षिण आऊँगा।'[5]

लेकिन जाति और जनसांख्यिकी दोनों ही लिहाज़ से बसपा के पास सही मायने में अखिल भारतीय पार्टी बन जाने का उचित मौक़ा था। लेकिन दक्षिण और पूरब में पार्टी संगठनात्मक अनिच्छा का शिकार बनी रही। उत्तर प्रदेश को छोड़कर जिन राज्यों में बसपा को चुनावी फसल का फ़ायदा हुआ उनमें मुख्यतः पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, राजस्थान और जम्मू आदि जैसे हिंदी भाषी प्रदेश शामिल हैं। कुल मिलाकर संगठन के अलावा भाषाई तौर पर भी बसपा ग़ैर-हिंदी इलाक़े में पैठ नहीं बना पायी। और जल्द ही बहुजन से केवल अनुसूचित-जातियों— और उनमें भी अलग-अलग उपजातियों के परस्पर संघर्षों में उलझ गयी। इसके अलावा, उसके अंदर भी जातीय दम्भ मज़बूत होने लगा। ज़ाहिर है कि एक पार्टी के तौर पर वह इस नुक़सान से बच नहीं सकती थी। यही वजह है कि बसपा के 'कल्पित बहुजन' का कुनबा सिकुड़ता गया और उसे मजबूरन 'सर्वजन' का दामन थामना पड़ा। लेखक ने इस परिघटना की पड़ताल पाँचवें अध्याय में की है।

जग-ज़ाहिर है कि बसपा ने उत्तर प्रदेश में बहुजन से सर्वजन की यात्रा जैसे विभिन्न राजनीतिक प्रयोगों के ज़रिये कई बार गठजोड़ और एक बार (2007-2012) अपने बूते पर सत्ता प्राप्त की। लेकिन यह तथ्य दरकिनार नहीं किया जाना चाहिए कि वैचारिक रणनीति के लिहाज़ से बसपा अपने शुरुआती दिनों से 'पूरे राष्ट्र के समाज' के बजाय 'बहुजन समाज' के ज़्यादा निकट रही है। जैसा कि बसपा के संस्थापक कांशीराम अपने निराले अंदाज़ में कहते थे 'मैं पिछड़ों, कमज़ोर वर्गों और अल्पसंख्यकों का नुमाइंदा हूँ जो इस देश की जनसंख्या के 85 फ़ीसदी लोग हैं'।[6] इन 85 फ़ीसदी लोगों में पार्टी अनुसूचित जातियों का खुलेआम समर्थन करती थी। बसपा कार्यकर्ता इस बात को स्वीकार करते हैं कि किसी भी निर्वाचन क्षेत्र में जाकर वे सबसे पहले अनुसूचित जाति के लोगों से ही सम्पर्क साधते थे। वे अकसर 'दलित' और 'बहुजन' शब्दों को एक-दूसरे के बदले धड़ल्ले से इस्तेमाल करते थे। इतना ही नहीं, ज़्यादातर चुनावी सभाओं में कांशीराम और अन्य बसपा कार्यकर्ता अनुसूचित-जाति समूहों के बीच भी अलग-अलग जाति जैसे चमार, महशाह, सतनामी, बाल्मीकि, पासी अदि को उनकी जाति का नाम लेकर समर्थन माँगते थे। इन कार्यकर्ताओं को इस बात से कोई गुरेज़ नहीं था कि वे ख़ुद भी उसी जाति के हैं।[7] यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि इन जाति समूहों को अक्सर सजातीय मान लेने की भूल की जाती है; जबकि इन सभी समूहों के बीच गहरे आंतरिक अंतर्विरोध देखे जा सकते हैं। उनमें आपसी हितों के लिए ज़ोरदार टकराहट होती है। यह एक ऐसी सामाजिक सच्चाई है जिससे बसपा को देर-सबेर रूबरू होना ही था।

ऐसा जान पड़ता है कि लेखक की निगाह से राजनीतिक पार्टी और जाति-मीमांसा के विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष छूट गया है। ऐसा भी सम्भव है कि यह विषय पुस्तक की परिकल्पना के दायरे से बाहर हो। लेकिन, यह इसलिए लगता है क्योंकि लेखक ने बसपा को दलित राजनीति और आंदोलन के बीच एक विकल्प के रूप में स्थापित किया है और उन्होंने इस मत के पक्ष में जायज़ दलील और साक्ष्य दोनों इकट्ठा किये हैं। फिर भी एक बड़ा सवाल है 'आख़िर जातीय पार्टियों को जातीयता के आधार पर निरंतर समर्थन क्यों मिलता रहता है? अपनी पुस्तक में कंचन चंद्रा ने इस प्रश्न की विस्तार से पड़ताल की है। चंद्रा के अनुसार, हिंदुस्तानी लोकतंत्र का मॉडल संरक्षात्मक है जहाँ जो राजनीतिक

---

[5] कंचन चंद्रा (2014) : 164.

[6] वही : 151,155.

[7] वही : 151,155.

पार्टी सत्ता में आती है, वह राज्य सत्ता का दोहन कर कुछ ख़ास जाति-समूहों को राज्य की संस्थाओं में समाहित करने का काम करती है।[8] और वह यह काम संस्थागत तरीक़े से करती है।

कंचन चंद्रा ने सटीक ढंग से समझाया है कि एक तरफ़ जहाँ प्रथम और द्वितीय वर्ग नौकरियों में क्रमशः केंद्रीय सिविल सेवा एवं राज्य सिविल सेवा के चयन हेतु एक समिति गठित की जाती है। यह समिति अक्सर लिखित परीक्षा तथा मौखिक साक्षात्कार के आधार पर चयन करती है। समिति की साक्षात्कार मण्डली सामूहिक होती है, जिसके सारे सदस्यों को प्रभावित कर पाना थोड़ा मुश्किल होता है। दूसरी ओर, तृतीय वर्ग और चतुर्थ वर्ग की नौकरियों में प्राथमिक शिक्षक, कर-निरीक्षक, सिपाही या कांस्टेबल, किरानी, चपरासी या सफ़ाई कर्मचारी जैसे पद होते हैं। इनकी चयन-प्रक्रिया में राज्य सत्ता के अधिकारियों की भूमिका निर्णायक होती है। वे इस प्रक्रिया को प्रभावित करने की स्थिति में होते हैं। हालाँकि ऐसे कुछ पहलुओं पर लेखक ने छठे अध्याय में अनुभव सिद्ध उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो उनके फ़ील्डवर्क पर आधारित है। इनमें दलित नौकरशाहों को राजनीतिक संरक्षण देकर आत्मविश्वास से लैस करना, विश्वासपात्र कर्मचारियों को मलाईदार पदों पर बैठाना या फिर विपक्षी पार्टियों के अति-विश्वासपात्रों का महत्त्वहीन पदों पर तबादला कर देना शामिल है। (पृ. 317-322)

आज हिंदुस्तान का दलित आंदोलन और दलित राजनीति अस्तित्व के संकट से जूझ रही है। वह आंतरिक कलह एवं दुविधाओं से ग्रसित है; रोज़मर्रा की ज़िंदगी में दलितों के ख़िलाफ़ जारी अत्याचार और प्रताड़ना नये-नये रूपों में दिखाई दे रही है। दलित समाज अपने उदासीन नेतृत्व से ऊब कर नये नेतृत्व की तलाश कर रहा है। मसलन, गुजरात में जिग्नेश मेवानी जाति-अस्मिता को ज़मीन और संसाधन से जोड़ कर बड़े वर्ग-संघर्ष के सपने देख रहे हैं। उत्तर प्रदेश में चंद्रशेखर आज़ाद 'रावण' राज्य सत्ता के ख़िलाफ़ बेबाक़ बोलने के साथ दलित-मुस्लिम एकता के लिए अपने समर्थकों के साथ जब-तब सड़क का रुख़ करते दिखते हैं। इसी तरह, महाराष्ट्र में आम्बेडकर के पौत्र प्रकाश आम्बेडकर अपने संगठन वंचित बहुजन अघाड़ी के बैनर तले दलित, वंचित, शोषित, आदिवासी समाज को एकत्रित करने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे दौर में प्रदीप कुमार की फ़ील्डवर्क और विश्वसनीय सरकारी चुनावी आँकड़ों पर आधारित यह पुस्तक दलीय राजनीति के शोधपूर्ण अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। अकादमिक जगत के लिए यह निश्चित तौर पर एक सुखद संदेश है।

---

[8] वही : 119-120.